THE TIMES OF INDIA

Date: 12-03-26

The I In Individual

Our liberties make us & society stronger. Groupthink doesn't. But state & even some courts don't get it

TOI Editorials

Harish Rana has been in a vegetative state for 13 years. All this while, his parents have loved him, cared for him. For years, they have also pleaded for permission to withdraw the tubes clinically feeding him. Yesterday, the Supreme Court finally came through for them. Remember, the court had ruled the right to die with dignity, as being folded within the right to live with dignity, in 2011, and again in 2018. That didn't save Rana's parents, from running around the medical and judicial establishments, exhaustingly. It was their choice – but they had to wait 13 years to exercise it.

Look around at our turbulent world, and you see that many countries are not big on individual freedoms. India is different. Its Constitution, written by a people emerging from colonial subjugation, acutely conscious of what the denial of freedom meant in practice, committed to a transformative agenda. And placed the individual citizen at the nation's core, rather than traditional hierarchies. But too often, practice falls tragically short of theory.

Theoretically, an adult is free to love any other adult of their choice. In reality, khap panchayats, 'love jihad' laws, 'honour' killings, and countless busybodies, won't let lovers be.

Likewise, a woman's bodily autonomy is strong on paper. But in reality, hostile doctors and judges can vamoose her right to abortion. Even something as basic as what food a person chooses to eat, can be restricted by govt fiat or mob fury.

In the two fast & furious centuries since John Stuart Mill and Harriet Taylor Mill's seminal text, On Liberty , was published, several weaknesses have been exposed in it. But this insight has held firm and true – that freedom of thinking is indispensable not just to make great thinkers, but also to enable average persons to become the best that they can be. If citizens cannot reach their potential, neither can the nation. If they cannot live in accordance with choices they make for themselves, is it even their own life? Often, the tyrant alone is portrayed as the enemy of liberty. But, suffocative public opinion does the job just as well.

दैनिक भास्कर

Date: 12-03-26

एआई से आने वाले समय में विश्वास का संकट बढ़ेगा

संपादकीय

एआई के दौर में प्रजातंत्र के लिए सबसे घातक संकट है- एस्ट्रोटर्किंग । इसके तहत जनरेटिव और एजेंटिक एआई का इस्तेमाल कर लाखों की संख्या में फर्जी जनता तैयार की जाती है, जो एक खास ओपिनियन के पक्ष या विपक्ष में खड़ी दिखाई देती है। इससे आम लोग यह विश्वास करने लगते हैं कि जनमत इस या उस ओर है। एस्ट्रोटर्फ कृत्रिम घास को कहते हैं, जिसे अपनी सुविधा- जरूरत के अनुरूप ढाला जा सकता है। एआई की दुनिया में यह नया शब्द बताता है कि कैसे असंख्य मनचाहे बॉट्स पैदा करके उनसे सोशल मीडिया अकाउंट्स खुलवाए जाते हैं और प्रमुख और संवेदनशील मुद्दों पर मनचाही सहमति या असहमति ली जाती है। प्रजातंत्र की रीढ़ है जनमत | दुनिया के प्रजातंत्र में लोकवृत्त का ढांचा हैं : अखबार, टीवी, सोशल मीडिया, सेमिनार, संसद, चौपाल, चुनाव सभा आदि। लेकिन इंटरनेट ने सूचना का समाजीकरण कर दिया। वॉट्सएप ग्रुप से लेकर अन्य तरीकों से ओपिनियन लिए- दिए जाने लगे। एआई इम्पैक्ट समिट में माना गया कि आने वाले दिनों में सूचना की विश्वसनीयता का संकट इतना बढ़ेगा कि विश्वसनीयता का भी मोनेटाइजेशन होगा। इस बात की होड़ रहेगी कि किसकी विश्वसनीयता ज्यादा है। खतरा यह है कि न केवल कृत्रिम लोग, बल्कि ऐसे खतरनाक वीडियो भी पैदा किए जाएंगे, जिनसे प्रभावित बड़े वर्ग को साम्प्रदायिक उन्माद की हद तक पहुंचाया जा सकेगा। कुल मिलाकर आने वाले समय में विश्वास का संकट बड़ा खतरा होगा ।

Date: 12-03-26

एनर्जी के लिए दूसरे देशों पर निर्भरता में है कई समस्याओं की जड़

प्रो. चेतन सिंह सोलंकी, (आईआईटी बॉम्बे में प्रोफेसर)

ट्रम्प के निर्णयों से दुनिया को चाहे जो नुकसान हुआ हो, एक फायदा यह हुआ है कि उनसे हमें आधुनिक जीवन की एक खतरनाक कमी को समझने में मदद मिली है। यह है ऊर्जा के उपयोग पर हमारी अत्यधिक निर्भरता, जो आज हमारे स्वास्थ्य, पर्यावरण, अर्थव्यवस्था सभी को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर रही है।

ईरान, यूक्रेन और पश्चिम एशिया में बढ़ते संघर्षों के बीच दुनिया फिर से ऊर्जा संकट की चर्चा कर रही है। कच्चे तेल की कीमतें बढ़ रही हैं, आपूर्ति घटाने की घोषणाएं हो रही हैं, कई देशों में ईंधन को लेकर चिंता दिखाई देने लगी है। भारत में भी एलपीजी की आपूर्ति और कीमतों पर दबाव की खबरें सामने आने लगी हैं। हर बार जब ऐसा होता है, हमें याद आता है कि आधुनिक दुनिया कितनी गहराई से ऊर्जा पर निर्भर हो चुकी है।

आज मानव जीवन का लगभग हर कार्य ऊर्जा से संचालित होता है। सुबह उठकर दांत साफ करने से लेकर मोबाइल पर संदेश भेजने तक, खाना पकाने से लेकर यात्रा करने तक- हर गतिविधि के पीछे कहीं न कहीं ऊर्जा का उपयोग छिपा हुआ है, फिर भले वो हमें नजर आए या न आए। आधुनिक अर्थव्यवस्था, उद्योग, परिवहन और संचार- सब ऊर्जा पर आधारित हैं। बिना ऊर्जा के जीवन की कल्पना करना भी मुश्किल है।

समस्या यह है कि आज भी दुनिया की अधिकांश ऊर्जा कार्बन आधारित स्रोतों से आती है- जैसे कोयला, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस। यह ऊर्जा पृथ्वी पर समान रूप से वितरित नहीं है। कुछ देशों के पास इन संसाधनों का भंडार है, जबकि अधिकांश को अपनी जरूरतों के लिए इनका आयात करना पड़ता है। यही असमान वितरण वैश्विक निर्भरता और असुरक्षा की जड़ है।

जब कोई देश ऊर्जा के लिए दूसरे देशों पर निर्भर होता है, तो ऊर्जा केवल आर्थिक संसाधन नहीं रहती, बल्कि राजनीतिक और रणनीतिक हथियार भी बन जाती है। तेल और गैस की आपूर्ति में बदलाव पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकता है, और कर रहा है। कई बार ऊर्जा आपूर्ति पर नियंत्रण देशों के बीच तनाव, संघर्ष और युद्ध की स्थितियां भी पैदा कर देता है।

कार्बन आधारित ऊर्जा पर यह निर्भरता केवल राजनीतिक असुरक्षा ही नहीं पैदा करती, बल्कि पर्यावरण के लिए भी गंभीर खतरा बनती जा रही है। कोयला, तेल और गैस का उपयोग बड़ी मात्रा में कार्बन डाइऑक्साइड और अन्य प्रदूषकों को

हमारी पृथ्वी के वातावरण में छोड़ता है। यही कार्बन उत्सर्जन फिर वैश्विक तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन का प्रमुख कारण बन रहा है। बढ़ती गर्मी, असामान्य वर्षा, सूखा और बाढ़ जैसी घटनाएं इसी का परिणाम हैं।

इस तरह कार्बन ऊर्जा हमें दोहरी समस्या में डालती है- एक ओर तो यह पर्यावरण को नुकसान पहुंचाती है, दूसरी ओर यह देशों के बीच निर्भरता और अस्थिरता को बढ़ाती है। दुनिया जितनी कार्बन ऊर्जा पर निर्भर होती चली जाती है, उतनी ही अधिक वह असुरक्षित और वल्नरेबल (कमजोर) बनती जाती है।

इसी संदर्भ में ऊर्जा स्वराज की अवधारणा महत्वपूर्ण है। ऊर्जा स्वराज का अर्थ है- ऊर्जा के मामले में स्वयं का राज, ऊर्जा में आत्मनिर्भरता। इसका मतलब यह नहीं कि हम पूरी तरह से बाहरी ऊर्जा स्रोतों से कट जाएं, बल्कि यह कि हम जितना संभव हो सके, अपनी ऊर्जा स्थानीय स्तर पर उत्पन्न करें और उसका विवेकपूर्ण उपयोग करें। कहते हैं ना- हम सुधरेंगे तो जग सुधरेगा।

जब कोई समाज और देश अपनी ऊर्जा का उत्पादन स्थानीय स्तर पर करने लगता है, जब वह ऊर्जा के दुरुपयोग को रोकता है, वह ऊर्जा की बहुमूल्यता को समझता है, तो उसकी बाहरी निर्भरता घटती है। इससे न केवल पर्यावरण को नुकसान कम होता है, बल्कि आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता भी बढ़ती है।

मेरी ऊर्जा स्वराज यात्रा, जो 2020 में शुरू हुई, इसी विचार पर आधारित है। इस यात्रा का उद्देश्य लोगों तक यह संदेश पहुंचाना है कि हमें केवल नई ऊर्जा तकनीकों की ओर ही नहीं जाना है, बल्कि ऊर्जा के प्रति अपने व्यवहार और सोच को भी बदलना है।

आज जब दुनिया बार-बार ऊर्जा संकट और संघर्षों का सामना कर रही है, तब यह समझना आवश्यक है कि समाधान केवल अधिक ऊर्जा खोजने में नहीं, बल्कि सही ऊर्जा चुनने और उसका विवेकपूर्ण उपयोग करने में है। यदि हम ऊर्जा के मामले में आत्मनिर्भर और जिम्मेदार बनते हैं, तो हम न केवल जलवायु संकट को कम कर सकते हैं, बल्कि दुनिया को अधिक स्थिर और सुरक्षित भी बना सकते हैं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 12-03-26

भर्ती करने की सरकार की सीमित क्षमता

एके भट्टाचार्य

वर्ष 2024 के आम चुनाव और नई दिल्ली में सरकार के गठन के तुरंत बाद, विभिन्न केंद्रीय मंत्रालयों और उनके विभागों में रिक्त पदों को भरने और रोजगार प्रदान करने की आवश्यकता पर काफी चर्चा हुई। संभवतः यह सत्तारूढ़ पार्टी

के इस आकलन के बाद हुआ कि रोजगार की कमी उसके कमतर चुनावी प्रदर्शन के कारणों में से एक थी, और इस वजह से वह अपने बहुमत बल पर सरकार नहीं बना सकी।

कारण चाहे जो भी हों, चुनाव के बाद पहले केंद्रीय बजट में कुछ योजनाओं की घोषणा की गई, जिनमें निजी क्षेत्र में अधिक रोजगार सृजित करने के उद्देश्य से शुरू किया गया इंटर्नशिप कार्यक्रम भी शामिल है। साथ ही, सरकार ने अपने मंत्रालयों और विभागों में रोजगार के अवसर प्रदान करने की आवश्यकता पर अधिक ध्यान देने का निर्णय लिया।

पिछले साल जुलाई में कार्मिक राज्य मंत्री जितेंद्र सिंह ने संसद को बताया था कि सरकार ने सभी केंद्रीय मंत्रालयों और विभागों को निर्देश जारी किए हैं कि वे रिक्त पदों को सीधी भर्ती के माध्यम से भरने के लिए समयबद्ध और अग्रिम कार्रवाई करें। सिंह ने संसद में एक प्रश्न के उत्तर में कहा, '45-50 शहरों में नियमित अंतराल पर रोजगार मेले आयोजित किए जा रहे हैं, जो केंद्रीय सरकारी मंत्रालयों, विभागों और संगठनों में रिक्त पदों को समयबद्ध तरीके से भरने में उत्प्रेरक का काम करेंगे।

दिसंबर 2024 में आयोजित एक रोजगार मेले में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नव नियुक्त सरकारी कर्मचारियों को 71,000 से अधिक नियुक्ति पत्र वितरित किए थे। इससे पहले अक्टूबर 2024 में मोदी ने एक अन्य रोजगार मेले में सरकारी नौकरियों के लिए 51,000 से अधिक नियुक्ति पत्र वितरित किए थे।

यह बात समझ में भी आती है क्योंकि सरकार के स्वयं के रोजगार संबंधी आंकड़ों से एक चिंताजनक प्रवृत्ति सामने आई थी। केंद्रीय वित्त मंत्रालय के व्यय विभाग ने अनुमान लगाया था कि 1 मार्च, ने 2023 तक केंद्र सरकार में स्वीकृत कुल पदों में से 24 फीसदी से अधिक पद रिक्त रहे। स्वीकृत 40.4 लाख पदों के मुकाबले 30.6 लाख लोगों को रोजगार मिला, जिसका मतलब है कि 9.8 लाख पद खाली रह गए।

क्या सरकारी पदों को भरने के अभियान के बाद स्थिति में सुधार हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले, मई 2014 में मोदी सरकार के गठन के बाद से इस मोर्चे पर उसके प्रदर्शन पर एक संक्षिप्त नजर डालना उपयोगी होगा। बजट दस्तावेजों के अनुसार, 1 मार्च, 2015 तक सशस्त्र बलों को छोड़कर, केंद्र के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों और केंद्र शासित प्रदेशों की सरकारी नौकरियों में 33 लाख लोग कार्यरत थे। इनमें से लगभग 10 विभागों (रेलवे परमाणु ऊर्जा, अंतरिक्ष, पुलिस, स्वास्थ्य, लेखापरीक्षा, राजस्व, नागरिक सुरक्षा, डाक और शहरी विकास) में 31 लाख लोग कार्यरत थे, जो कुल सरकारी कर्मचारियों का 93 फीसदी से अधिक था। स्वाभाविक रूप से, इस समूह में भारतीय रेलवे (13.3 लाख कर्मचारी) का हिस्सा सबसे ज्यादा (40) फीसदी से अधिक) था ।

लगभग 10 साल बाद, 1 मार्च, 2025 तक सरकारी कर्मचारियों की कुल संख्या लगभग 33 लाख पर अपरिवर्तित रही। यहां तक कि कुल सरकारी कर्मचारियों में इन 10 विभागों का हिस्सा भी समान रहा। हालांकि, भारतीय रेल में कर्मचारियों की संख्या घटकर 12.1 लाख रह गई, जो कुल कर्मचारियों का लगभग 37 फीसदी है। एक दशक में यह 1 लाख से अधिक कर्मचारियों की कमी थी। यह स्पष्ट नहीं है। कि कमी किस वजह से हुई ? अधिक संविदा कर्मचारियों द्वारा काम किए जाने, आउटसोर्सिंग या प्रौद्योगिकी के कारण। इसके विपरीत, कुछ विभागों में कर्मचारियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि भी देखी गई। प्रौद्योगिकी के बढ़ते उपयोग के बावजूद इस अवधि के दौरान राजस्व विभाग (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों सहित) में कर्मचारियों की संख्या में 16 फीसदी की वृद्धि हुई, जो लगभग 96,500 से बढ़कर

1,12,000 से अधिक हो गई। असैनिक सुरक्षा कर्मचारियों की संख्या लगभग दोगुनी हो गई, लेकिन केंद्रीय पुलिस और डाक कर्मचारियों की संख्या में एक अंक की मामूली वृद्धि रही।

लेकिन 2014 से 2023 के बीच सरकारी विभागों में कर्मचारियों की भर्ती की तुलना में 2023 से 2025 के बीच एक दिलचस्प बदलाव देखने को मिला। मोदी सरकार के पहले नौ वर्षों में सरकारी कर्मचारियों की संख्या 2014-15 में 33 लाख से घटकर 2022-23 में 31 लाख रह गई। लेकिन अगले दो वर्षों में यह संख्या बढ़ी और मार्च 2025 तक यह लगभग 33 लाख हो गई। दूसरे शब्दों में कहें तो, मंत्रालयों और विभागों में रिक्त पदों को भरने पर सरकार के जोर देने से फर्क पड़ा, हालांकि इससे केवल छह फीसदी की वृद्धि हुई। यह मानते हुए कि स्वीकृत पदों की संख्या 40.4 लाख पर अपरिवर्तित रही, रिक्त पदों का स्तर 24 फीसदी से घटकर 18 फीसदी रह गया।

सरकार के बजट दस्तावेजों से कर्मचारियों की संख्या के संबंध में एक और दिलचस्प प्रवृत्ति सामने आती है। हर साल बजट पेश करते समय वित्त मंत्रालय उस वर्ष मार्च की शुरुआत में सरकार के कर्मचारियों की अनुमानित संख्या और उसी दिन पिछले वर्ष की वास्तविक संख्या प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, 2025-26 के बजट में 1 मार्च, 2024 तक की वास्तविक संख्या और 1 मार्च, 2025 तक की अनुमानित संख्या प्रस्तुत की गई थी। हालांकि, जब अगले वर्ष ये अनुमान वास्तविक संख्या में परिवर्तित होते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि योजना के अनुसार लोगों को भर्ती करने की सरकार की क्षमता बेहद कमजोर है, या उसके अनुमान थोड़े भ्रामक हैं।

इस पर विचार करें। वर्ष 2025-26 के बजट में 1 मार्च, 2025 तक अनुमानित कर्मचारियों की संख्या 36.5 लाख दिखाई गई थी, लेकिन एक वर्ष बाद 2026-27 के बजट में जारी वास्तविक आंकड़े कर्मचारियों की संख्या 33 लाख ही बताते हैं। यह एक लंबे समय से चली आ रही प्रवृत्ति है और कई वर्षों से ऐसा ही हो रहा है, हालांकि हाल के वर्षों में यह अंतर और बढ़ गया है। लेकिन इससे पता चलता है। कि सरकार की भर्ती करने की क्षमता या तो सीमित है या उसकी योजना में आवश्यक मजबूती का अभाव है। बेशक, सरकार अपनी योजना के अनुसार कर्मचारियों की भर्ती न कर पाने से कुछ धन की बचत करती है। उदाहरण के लिए, 2024-25 के दौरान इन सरकारी कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और यात्रा पर व्यय के लिए संशोधित अनुमान लगभग 3.39 लाख करोड़ रुपये का था। लेकिन इस मद पर वास्तविक व्यय लगभग 3.35 लाख करोड़ रुपये था।

लोगों की भर्ती करने की प्रशासनिक क्षमता से जुड़े ये मुद्दे ऐसे समय में और भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जब सरकार अपने मंत्रालयों और विभागों में अधिक कर्मचारियों की भर्ती पर जोर दे रही है। बहस सिर्फ इस बात पर नहीं है कि सरकार को और अधिक लोगों की भर्ती करनी चाहिए या नहीं, बल्कि इस बात पर भी है कि स्वीकृत 40 लाख पदों की समीक्षा की जानी चाहिए या नहीं और क्या मंत्रालयों को अतिरिक्त भर्ती के प्रस्ताव देने और उन लक्ष्यों को पूरा करने में विफल रहने के लिए जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए। इस वर्ष के बजट के आंकड़े पहले ही यह दर्शाते हैं। कि सरकार की धन खर्च करने की क्षमता कितनी सीमित है। ऐसा लगता है कि अधिक लोगों की भर्ती करने की क्षमता भी उतनी ही सीमित है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 12-03-26

इच्छा मृत्यु की मांग मानने का मतलब

कमलेश जैन, (वरिष्ठ अधिवक्ता, सुप्रीम कोर्ट)

देश में इच्छा मृत्यु की मांग मानने का यह पहला मामला है । सर्वोच्च न्यायालय ने करीब तेरह साल से अचेत (कोमा) पड़े गाजियाबाद के हरीश राणा को आखिरकार पैसिव यूथेनेशिया (इच्छा मृत्यु) की अनुमति दे दी। सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में कहा कि हरीश को एम्स में दाखिल किया जाएगा, जहां जीवन रक्षक मशीनें धीरे-धीरे हटाई जाएंगी।

यह मर्मस्पर्शी निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि इस पूरी प्रक्रिया को इस तरह से अंजाम दिया जाए, जिससे मरीज का सम्मान और उसकी गरिमा बनी रहे। न्यायमूर्ति पारदीवाला ने कहा कि यह बेहद दुखद मामला है, लेकिन किसी व्यक्ति को बहुत लंबे समय तक पीड़ा में रखना भी उचित नहीं। साल 2013 में हरीश चंडीगढ़ में छात्रावास की चौथी मंजिल से गिर गए थे, जिससे उनके सिर में गंभीर चोटें लगीं। तभी से वह अचेतावस्था में पड़े हैं और बिस्तर पर पड़े रहने से उनके शरीर में अनेक घाव भी हो गए हैं। चूंकि उनके स्वस्थ होने की कोई संभावना नहीं है, इसलिए सौ फीसदी विकलांगता से जूझ रहे हरीश के लिए माता- पिता ने ही इच्छा मृत्यु की मांग की थी, जिस पर यह फैसला आया है।

इससे पहले साल 2011 में भी एक मामला सामने आया था। दरअसल, वह मामला अरुणा शानबाग से जुड़ा है। 27 नवंबर, 1973 की घटना है। अरुणा एक प्रशिक्षित नर्स थीं। मुंबई के किंग एडवर्ड अस्पताल में काम करती थीं। वारदात की रात अरुणा देर रात तक काम करती रहीं, क्योंकि 'फूड प्वॉइजनिंग' के शिकार कई बच्चे उस रात अस्पताल में दाखिल हुए थे। नर्सों का लॉकर बेसमेंट में था । अरुणा वहां अपने कपड़े रखने गईं। वार्ड ब्वॉय सोहनलाल उनका पीछा करता पहुंचा और उनके गले में कुत्ते वाली जंजीर डाल दुराचार करने लगा। दुष्कृत्य के दौरान उसने अरुणा के गले और मस्तिष्क की नसों को इस कदर क्षतिग्रस्त कर दिया कि उनकी आवाज चली गई और वह कोमा में चली गईं। अरुणा का कोमा सौ प्रतिशत नहीं था । वह खा-पी सकती थीं और जीना चाहती थीं।

बहुत दिनों तक अरुणा की स्थिति में कोई सुधार न देखने के बाद उनकी दोस्त पिंकी विरानी ने सुप्रीम कोर्ट में एक दया याचिका दायर की। पिंकी अपनी दोस्त को इस स्थिति में नहीं देखना चाहती थीं। हालांकि, अस्पताल को अरुणा की तीमारदारी से कोई दिक्कत नहीं थी । उस मामले की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 'पैसिव यूथेनेशिया' के बारे में कहा था कि परिवार के किसी व्यक्ति की देखभाल की अनिच्छा होने से दया याचिका डालना और उसे स्वीकार करना

एक खेल हो सकता है, बल्कि खतरनाक खेल हो सकता है। चिकित्सकों के नैतिक मापदंडों पर भी अदालत ने तब सवालिया निशान लगाए थे। बहरहाल, सुप्रीम कोर्ट ने इच्छा मृत्यु की वह याचिका खारिज कर दी थी। करीब 42 साल तक कोमा में रहने के बाद मई 2015 में अरुणा की निमोनिया के कारण मृत्यु हुई।

चिकित्सा सेवाओं के विस्तार के साथ हमारे देश के शहरी इलाकों में जहां अब करीब दो-तिहाई मौतें अस्पतालों में होती हैं, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में भी दस में से चार मौतें अस्पताल में होने लगी हैं। विडंबना यह है कि परिवार के सदस्य लाइलाज बीमारी होने पर भी अक्सर इलाज जारी रखने के लिए खुद को मजबूर महसूस करते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि ऐसा न करना नैतिक रूप से तो अनुचित है ही, सामाजिक रूप से भी उस पर लांछन लगेगा। देखा जाए, तो अस्पताल में भर्ती होते ही व्यक्ति मरीज बन जाता है और तीमारदार पर बोझ बनने से उसकी गरिमा की भी हानि होती है। उसके बचने की उम्मीदन होने के बावजूद परिवार को इलाज का खर्च उठाना पड़ता है, सो अलग। मरीज खुद तो तकलीफ उठाते ही हैं।

इस विमर्श का एक पहलू यह भी है कि हमारे देश के अस्पतालों में बेड से लेकर 'आईसीयू' तक की हमेशा कमी रहती है और लाइलाज मरीजों के सालों भर्ती रहने से दूसरे लोग भी, जिनके बचने की अच्छी संभावना हो, वंचित रह जाते हैं। जब तक व्यक्ति अस्पताल में भर्ती न होने की इच्छा साफ तौर पर या लिखकर नहीं बताता, परिवार अंत अंत तक उसे बचाने के लिए सभी संभव उपाय करता रहता है।

अरुणा शानबाग मामले में ही सर्वोच्च न्यायालय ने यह संकेत किया था कि संविधान द्वारा प्रदत्त जीवन के मौलिक अधिकार की गारंटी में गरिमा के साथ मरने का अधिकार भी शामिल है। अदालत ने तभी निष्क्रिय इच्छा मृत्यु को मंजूरी दी थी। केरल और कर्नाटक ने इसे लागू भी किया है। इस कानून के तहत कोई भी व्यक्ति भविष्य में अपने इलाज को लेकर अग्रिम मेडिकल निर्देश (एएमडी) या 'लिविंग विल' रिकॉर्ड कर सकता है। परिवार जीवन रक्षक सहायता उपकरण, यानी डब्ल्यूएलएसटी हटाने के लिए तय प्रक्रिया के जरिये अनुरोध करता है, जिसे मेडिकल बोर्ड से मंजूरी लेनी होती है। सुप्रीम कोर्ट ने एएमडी के नियमों में भी ढील दी है। इसे अब न्यायिक दंडाधिकारी के पास पंजीकरण कराने के बजाय नोटरी से प्रमाणित शपथ-पत्र से ही किया जा सकता है, लेकिन राज्य सरकारों को डब्ल्यूएलएसटी पर हस्ताक्षर के लिए कई सरकारी अधिकारियों की जरूरत होती है ।

जाहिर है, ऐसे संवेदनशील मामले में समझदारी से काम लेना बेहतर है। हमारे देश के नीति-निर्माताओं को यह समझना होगा कि भावुकता भरे ऐसे पलों में बेरहम अफसरशाही की दखलंदाजी के अवांछित नतीजे हो सकते हैं । इसीलिए, नियमों को सख्त करने या इस नीति को वापस लेने से बचना चाहिए।

हालांकि, बेंगलुरु के मशहूर सर्जन डॉक्टर देवी प्रसाद शेट्टी का मानना है कि भारत के डॉक्टर अभी इतने परिपक्व नहीं हैं कि वे 'पैसिव यूथेनेशिया' के बारे में अपनी सलाह दें। फिर ऐसे अनेक मामले सामने आए हैं, जब वर्षों के कोमा के बाद मरीज वापस लौट आते हैं। कुल मिलाकर इच्छा मृत्यु के मामलों में घर, डॉक्टर और अदालत की एक विवेचना भरी नजर जरूरी है, तभी कोई माकूल निर्णय हो सकता है, वरना कोर्ट को छोड़कर दूसरे तमाम रिश्तेदार अनचाहे मरीज के प्रति अलग नजरिया अपना सकते हैं, जो किसी खतरे से खाली नहीं है।

Date: 12-03-26

राजनीतिक हथियार न बनें महाभियोग जैसे प्रस्ताव

योगेंद्र नारायण, (पूर्व महासचिव, राज्य सभा)

लोकसभा अध्यक्ष ओम बिरला के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाए जाने के बाद विपक्षी दल मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार के विरुद्ध भी महाभियोग प्रस्ताव लाने की तैयारी कर रहे हैं। अगर मुख्य चुनाव आयुक्त के खिलाफ ऐसाकोई प्रस्तावलाया जाता है, तो यह भारतीय इतिहास की पहली घटना होगी। बहरहाल, इस पूरे प्रकरण ने महाभियोग व अविश्वास प्रस्ताव की प्रक्रियाओं को लेकर नए सिरे से बहस खड़ी कर दी है। सवाल यह भी है कि क्या अब महज राजनीतिक हथियार के रूप में इनका इस्तेमाल होने लगा है ?

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, अध्यक्ष व उपाध्यक्ष, मुख्य निर्वाचन आयुक्त, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक और सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिए महाभियोग का प्रावधान किया गया है। इसके लिए प्रक्रियाओं की चर्चा संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में की गई है। मसलन, राष्ट्रपतिके लिएप्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 61 में बताई गई है। लोकसभा और राज्यसभा में से कोई भी सदन एक प्रस्ताव के माध्यम से इसे ला सकता है, बशर्ते उस पर सदन के कुल सदस्यों में से कम से कम एक चौथाईने हस्ताक्षर किएहों। इसमें 14 दिनों की पूर्व सूचना आवश्यक है। और सदन के कुल सदस्यों में से दो- तिहाई बहुमत मिलने के बाद ही वह पारित माना जाता है। इसके बाद आरोपों की जांच दूसरा सदन करता है। उप-राष्ट्रपति के मामले में प्रक्रिया इतनी औपचारिक नहीं होती। इसके लिए राज्यसभा में प्रभावी बहुमत (तत्कालीन सदस्यों का बहुमत) और लोकसभा की सहमति की दरकार होती है। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को हटाने के लिए लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों का बहुमत ही काफी है।

रही बात मुख्य चुनाव आयुक्त, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक और सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की, तोउनको अनुच्छेद 124 (4) में वर्णित तरीके से पद से हटाया जासकता है। इसके लिएसंसदके दोनों सदनों में विशेष बहुमत (उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की दो-तिहाई संख्या) से प्रस्ताव पारित होना चाहिए।

इतिहास यदि खंगालें, तो लोकसभा अध्यक्षों को हटाने के तीन प्रस्ताव (साल 1954, 1966 और 1987 में) आ चुके हैं, लेकिन इनमें से कोई भी पारित नहीं हुआ । जजों के खिलाफ भी अतीत में महाभियोग के मामले सामने आए हैं और एक मामले में जज ने इस्तीफा दिया था, जबकि दूसरे मामले में प्रस्ताव सदन से पारितहीनहीं हो सका। हालांकि, अमेरिका से तुलना करें, तो तस्वीर अलग दिखती है। अमेरिका में तीन राष्ट्रपतियों के खिलाफ महाभियोग आ चुका है, जिनमें से एक डोनाल्ड ट्रंप भी हैं, जिन पर 2019 में प्रस्ताव निचले सदन में पारित हुआ था, मगर सीनेट में पास नहीं हो सका। इनसे पहले एंड्रय जॉनसनव बिलक्लिंटन के खिलाफ भी महाभियोग चल चुका है। हालांकि, इनमें से कोई पद से हटाए नहीं जा सके।

अपने देश में जरूरी बहुमत न होने के बावजूद विपक्षी दल महाभियोग जैसे प्रस्तावलाते रहे हैं, जोराजनीतिक हितों के तहत लाया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है, ताकि उनको अपनी बात रखने कामौकामिलसके । ऐसे में महाभियोग या पद से बेदखली संबंधी इन नियमों में कुछ सुधार की जरूरत है। पहला सुधार तो यही होना चाहिए कि ऐसे किसी

प्रस्ताव की जांच सबसे पहले 15 सदस्यीय समिति करे, जिसमें तमाम दलों के प्रतिनिधि मौजूद हों। इसमें सदस्यों की संख्या सदन में दलों की संख्या के अनुपात में होनी चाहिए। दूसरा, महाभियोग प्रस्ताव पर सदन के कम से कम 50 प्रतिशत सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। तीसरा, अध्यक्ष जैसे निर्वाचित अधिकारियों के खिलाफ यह प्रस्ताव मंजूर नहीं करना चाहिए, इसे केवल न्यायाधीशों, मुख्य चुनाव आयुक्त और कैग जैसे गैर-निर्वाचित अधिकारियों के विरुद्धही स्वीकार किया जाना चाहिए।

चौथा सुधार, संसदके पास पहले से ही अविश्वास प्रस्तावकाहथियार है, जिसका उपयोग सरकार व उसके समर्थित पदाधिकारियों (जैसे अध्यक्षव उपाध्यक्ष) के खिलाफ प्रभावी ढंग से किया जाना चाहिए। और पांचवां, महाभियोग प्रस्ताव को तभी स्वीकार जाना चाहिए, जब संबंधित व्यक्ति जघन्य कृत्यों में शामिल हो ।